प्रकीर्णक-पुस्तक-मालाका द्वितीय पुष्प

अनित्य-भावना

अर्थात्

श्रीपद्मनन्द्याचार्य-विरचित 'अनित्यपञ्चाशत्'
हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ-सहित

सम्पादक और अनुवादक
जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

प्रकाशक
वीर-सेवा-मन्दिर
सरसावा जिला सहारनपुर

संशोधित और संवर्धित संस्करण

मंगसिर, श्रीवीर-निर्वाण-सवत् २४७३

तृतीय संस्करण } विक्रम स० २००३ नवम्बर १९४६ { मूल्य चार आना

ग्रन्थानुक्रम

श्रीवास्तव प्रेस, कोर्ट रोड, सहारनपुर

प्राक्कथन

इस ग्रन्थका पहला संस्करण मई सन् १९१४ ई०में जैनग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय हीराबाग, बम्बईसे प्रकाशित हुआ था। उसमे हिन्दी पद्यानुवाद के कई कई पद्योको एकसाथ पृष्ठोंके ऊपरी भागपर मोटे टाइपमे दिया गया था और नीचे तदनुसार मूल संस्कृत पद्यो तथा पद्यांशोंको कुछ बारीक टाइपमे रनिंग (एकसरडा) रूपसे रक्खा गया था। साथ ही, फुटनोटोंमे पद्यानुवादके कुछ कठिन शब्दोंका अर्थ भी दे दिया गया था।

द्वितीय संस्करणमे छपाईका यह सब ढंग बदलकर प्रत्येक मूल पद्यको ऊपर मोटे टाइपमे रक्खा गया, उसके नीचे दूसरे टाइपमे पद्यानुवाद दिया गया और तदनन्तर भिन्न टाइपमे भावार्थकी नई योजना की गई, जिससे हिन्दी पाठकोंके लिये इस ग्रन्थकी उपयोगिता और भी ज़्यादा बढ गई। भावार्थके लगजानेसे अर्थ-विषयक उक्त फुटनोटोंकी आवश्यकता नहीं रही, अत उन्हें निकाल दिया गया। साथ ही, पद्यानुवादका संशोधन और उसकी भाषामे कुछ परिवर्तन भी किया गया। प्रस्तावनामे भी इतिहासादि-विषयकी कुछ वृद्धि की गई और इन सब परिवर्तनोंके कारण इस संस्करण मे बहुत कुछ विशेषता आगई। यह संस्करण वीरसेवामन्दिरकी प्रकीर्णक-पुस्तक मालाके लिये तय्यार किया गया और उसके द्वारा मई सन् १९४४ मे उस समय प्रकाशित हुआ जब कि पहला संस्करण बहुत वर्षोंसे समाप्त होचुका था, पुस्तक मिलती नही थी, जनताकी मॉग थी और वह इसके लाभोंसे वंचित होरही थी। चुनॉचे द्वितीय संस्करणके प्रकाशित होते ही कोई छह महीनेके भीतर उसकी प्राय. सब कापियॉ उठ गईं और जनताकी मॉग खडी रही। सारनाथकी बौद्ध सोसायटीकी ओरसे भी अपने भिक्षुओंको

वितरण करनेके लिये इसकी माँग आई थी। उस समय विचार हुआ था कि पुस्तककी दस हजार प्रतियाँ और छपाई जावे, परन्तु कागजकी समस्या और सरकारी प्रतिबन्धनोंके कारण वैसा नही होसका। भावनगर, सोनगढ़ आदि गुजरात प्रान्तके भाईयोंकी जब मागे पूरी नहीं हो सकी तो एक सभाने गुजराती अनुवादके साथ इस पुस्तकको प्रकाशित करनेकी अनुमति माँगी, जो उसे सहर्ष दी गई। अस्तु।

जनताकी उक्त माँगोंको कुछ पूरा करनेके लिये ही यह तृतीय संस्करण निकाला जारहा है, जो द्वितीय संस्करणके ही अनुरूप है। द्वितीय संस्करण मे छापेकी जो कुछ अशुद्धियाँ रह गई थी उन्हें सुधार दिया गया है। साथ ही, कुछ सज्जनोंकी इच्छानुसार संस्कृत पद्योंके ऊपर उनके छन्दोंका नाम बढ़ा दिया है और अकारादि क्रमसे मूल पद्योंकी एक अनुक्रमणिका भी साथ मे लगा दी गई है। आशा है इससे यह संस्करण पाठकोंको और भी अधिक रुचिकर तथा हितकर सिद्ध होगा।

(पिछले पृष्ठ ४ का शेषांश)

सुनिश्चितरूपमें स्थित था, और इसीसे उन्होने बडी शान्ति, चित्तशुद्धि एवं धैर्यके साथ समाधि पूर्वक देहका त्याग किया है।

अत उनकी इस प्रिय पुस्तकके तृतीय संस्करणके अवसरपर इस संस्करणकी एकहजार एकसौ प्रतियाँ उन्ही श्री दादीजीकी पवित्र स्मृतिमे उन्हीके दान-द्रव्यसे प्रकाशित की जाती हैं।

जुगलकिशोर मुख्तार

श्री दादीजीकी स्मृतिमें

श्रीमती रामीबाईजी धर्मपत्नी ला० सुन्दरलालजी जैन रईस नानौता जि० सहारनपुरको, जो रिश्तेमे मेरी दादी थी और मेरे सत्कार्योंमे सदा ही सहयोग प्रदान किया करती थी, यह 'अनित्यभावना' बड़ी ही प्रिय थी। चुनाँचे जब इसका पहला संस्करण बम्बईसे प्रकाशित हुआ तो उन्होंने उसकी ५०० प्रतियाँ खरीदकर उन्हे बिना मूल्य वितरण किया था और वे बडे प्रेमके साथ इसका पाठ किया करती थी।

ता० ७ जून सन् १९४५ को होने वाले अपने स्वर्गबाससे कुछ दिन पहले ही जब उन्होने मेरे मुखसे इसका पाठ सुना तो वे आनन्दमे सिर हिला हिलाकर और स्वीकृतिके चिन्हस्वरूप दोनो हाथोको मस्तकपर रख रखकर इसकी शिक्षाओके प्रति अपनी बड़ी ही रुचि अभिव्यक्त करती थी और ऐसा मालूम होता था कि यह सब प्राय इस पुस्तकके शिक्षा-संस्कारोका ही नतीजा है जो वे वृद्धावस्था और रुग्णावस्थाके ऐसे कठिन एव नाजुक अवसरपर दुःख, शोक, भय और मोहपर अच्छी विजय प्राप्त करनेमे समर्थ हो सकी हैं। उन्होने कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति और शरीरादि परसे अपनी राग परिणति, आसक्ति एव ममताको एक दम हटा लिया था। पूछनेपर वे बडी निस्पृहताके साथ कह देती थी—'मुझे कोई कष्ट नही', 'किसी चीजकी इच्छा नही', 'किसीको कोई सन्देश देना नही'। इसीसे इष्ट-वियोगादिका स्पष्ट दृश्य सामने अङ्कित होते हुए भी उनकी आँखोमें कभी आँसू नही आए, किसीको देखकर उनकी छाती भर कर नही आई, मृत्युकी किसी विभीषिकाने उन्हे बेचैन नही किया, कूल्हने कराहनेकी कोई आवाज सुनाई नही पडी, कोई प्रकारका उपचार उन्होने नही चाहा और न निर्बलता एव असन्तोषकी सहचरी झुञ्झलाहट ही कभी उनके पास तक फटकी। वे कर्मोदयको समताभावसे सहन करती हुई एक अन्तरात्मवृत्ति साध्वीके रूपमे दीख पडी और अपने अन्तिम जीवनमे भी धीर तथा उदार-हृदय बनी रहीं। उनके सामने भावीका अटल विधान

(शेष पिछले पृष्ठ ४ पर)

अनित्यभावनाके मूलपद्योंका अकारादिक्रम

प्रस्तावना

श्रीपद्मनन्दि आचार्यने आजसे कोई ८०० वर्ष पहले 'अनित्यपंचाशत्' को रचकर ससारी जनोंका बडा ही उपकार किया है। इष्ट-वियोगादिके कारण कैसा ही शोक-सतप्त हृदय क्यों न हो, इसको एकबार पढ़ लेनेसे बड़ी ही शान्तताको प्राप्त हो जाता है। इसके पाठसे उदासीनता तथा खेद दूर होकर चित्तमे प्रसन्नता और सरसता आजाती है। ससार-देह-भोगोंका यथार्थ स्वरूप मालूम करके हृदयमे विवेक बुद्धि जागृत हो उठती है। ससारीजनोंको उनकी भूल मालूम पड जाती है और उनमे धैर्य तथा साहसकी मात्रा बढ़ जाती है। जो लोग शोक-सन्तापमे आम-समर्पण कर अपने धर्मार्थादिक पुरुषार्थोंको खो बैठते हैं—अकर्मण्य बन जाते हैं—महीनों वर्षों तक रोते-पीटते हैं और इस प्रकार अपने शारीरिक तथा मानसिक बलको क्षति (हानि) पहुचाकर अपना जीवन, एक प्रकारसे, दुःखमय बना लेते हैं, उनके लिये ऐसे ग्रन्थोंका सत्संग बडा ही उपयोगी है—उनकी आत्माओंको उन्नत करने और उनका दुःख दूर करनेमे बडा ही सहायक है। ऐसे ग्रन्थ-रत्नोका सर्वसाधारणमें प्रचार होनेकी बहुत बडी आवश्यकता है। यह ग्रथ जैन और अजैन सबके ही लिये समानरूपसे हितकारी है।

इस ग्रंथकी भाषा संस्कृत होनेके कारण हमारा हिन्दी समाज इसके लाभोंसे प्राय वंचित होरहा है, यह देखकर आजसे कोई ४५ वर्ष पहले मेरे अन्तःकरणमे इस परमोपकारी ग्रंथका हिन्दी पद्यानुवाद करनेका विचार उत्पन्न हुआ और उसके फलस्वरूप जो पद्यानुवाद प्रस्तुत किया गया उसे अर्से बाद मई सन् १९१४ ई० मे श्री नाथूरामजी प्रेमीने अपने जैनग्रथ रत्नाकर-कार्यालय बम्बईमे मूल-सहित छपाकर

प्रकाशित किया था। उसीका यह संशोधित, कुछ परिवर्तित और भावार्थके साथ सवर्धित संस्करण पाठकों के सम्मुख उपस्थित है। इस अनुवादमें मैंने, इस बातका ध्यान रखते हुए कि मूलकी कोई बात छूट न जावे, उस भावको लानेकी यथाशक्ति चेष्टा की है जो आचार्य महोदयने मूलमें रक्खा है और साथ ही यह भी ख़याल रक्खा है कि अनुवादकी भाषा कठिन न होने पावे। मुझे इसमे कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है, इसका विचार मैं अपने विचारशील पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। किसी ग्रन्थके पद्यानुवाद रूपमें यह मेरी पहली ही कृति है।

यहाँ पर मैं इतना ज़रूर प्रकट कर देना चाहता हूँ कि इस ग्रन्थका मेरे जीवन पर खास प्रभाव पड़ा है। इसने शुरूसे ही मेरे जीवनकी धाराको बदला है और मुझे विषय-वासनाके चक्करमें, हर्ष-विषादकी दलदलमे और शोक मोहके फंदेमें अधिक फँसने नही दिया। इसके लिये मैं आचार्य-महोदयका बहुत ही कृतज्ञ और आभारी हूँ। साथही, स्वर्गीय श्रीमान् सेठ हीराचंद नेमिचन्दजी जैन ऑनरेरी मजिष्ट्रेट शोलापुरका भी हृदयसे आभार मानता हूँ, जिनकी सन् १८९६ मे प्रथम प्रकाशित की हुई इस 'अनित्यपचाशत्' और उसकी कर्तृत्वविहीन साधारण सस्कृत टीकाको देखकर मुझे सर्वप्रथम इस पद्यानुवादके करनेकी प्रेरणा मिली।

वीरसेवामन्दिर
सरसावा, जि० सहारनपुर

जुगलकिशोर मुख़्तार

अनित्य-भावना

अर्थात्

श्रीपद्मनन्द्याचार्य-विरचित 'अनित्यपञ्चाशत्'

हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ-सहित

मंगलाचरण

जयति जिनो धृति-धनुषामिषु-माला भवति योगि-योधानाम्।
यद्वाक्करुणामय्यपि मोह-रिपु-प्रहतये तीक्ष्णा ॥ १ ॥

(आर्या छंद[1])

जिनके वचन करुण भी, शरगण हों मोह-शत्रु-नाशनको।
धैर्य-धनुर्धर-योगी-सुभटोंके, जयहु सु-जिनदेव ॥ १ ॥

भावार्थ—जिनके करुणा-दयामय वचन भी मोहशत्रुका विनाश करनेके लिये उन योगि-योद्धाओंके तीक्ष्ण शरगण—बाणसमूह—बन जाते हैं जो धैर्य-धनुषको धारण किये हुए हैं—अर्थात् जिनके अहिंसा-

---

१ इस छन्दके चारों चरणोंमें क्रमशः १२, १८, १२, १५ मात्राएँ होती हैं। मूल पद्य भी इसी छंदमें है।

धर्मात्मक वचनोंका आश्रय लेकर अथवा सम्यक् प्रयोग करके योगीजन अपने मोहशत्रुका नाश कर डालते हैं—वे श्रीजिनदेव—कर्मशत्रुओंका नाश करनेवाले श्रीअर्हन्तदेव जयवन्त हों—भव्यजनोंके हृदयमें सदा ही उनका प्रभाव अङ्कित रहे।

(शार्दूलविक्रीडित)

यद्येकत्र दिने न भुक्तिरथवा निद्रा न रात्रौ भवेत्
विद्रात्यम्बुज-पत्रवद्दहनतोऽभ्याशस्थिताद्यद्ध्रुवम्।
अस्त्र-व्याधि-जलादितोऽपि सहसा यच्च क्षयं गच्छति
भ्रातः काऽत्र शरीरके स्थिति-मतिर्नाशेऽस्य को विस्मयः ॥२॥

(नरेन्द्र छन्द[1]=जोगीरासा)

एक दिवस भोजन न मिले या नींद न निशको आवे,
अग्नि-समीपी अम्बुज-दल-सम यह शरीर मुरझावे।
शस्त्र-व्याधि-जल-आदिकसे भी क्षणभरमें क्षय हो है,
चेतन! क्या थिर-बुद्धि देहमे? विनशत अचरज को है?॥ २ ॥

भावार्थ—एक ही दिन अगर भोजन नहीं मिलता या रातको नींद नहीं आती तो यह शरीर ऐसे मुरझा जाता–कुम्हला जाता है जैसे कि आगके समीप कमलका पत्ता। इसके सिवाय, अस्त्र-शस्त्रोंसे, व्याधियों-

---

१ नरेन्द्र छंद मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकारका होता है। मात्रिक में २८ (१६+१२) मात्राएँ होती हैं और अन्तमें दो गुरु अथवा किसी किसीके मतसे एक या तीन गुरु भी होते हैं। और वर्णिकरूप इस छंदका २१ अक्षरोंका निर्दिष्ट है, परन्तु मात्राएँ उसमें भी २८ ही होती हैं और गण उसमें भगण, रगण, नगण, नगण, जगण, जगण और यगण इस क्रमसे होते हैं। प्रस्तुत अनुवादमें इस छन्दका सर्वत्र मात्रिक रूप दिया गया है।

बीमारियोंसे और जलादिकसे भी यह शरीर शीघ्र ही नाशको प्राप्त हो जाता है—छिदकर, भिदकर, कटकर, पीडित होकर, विकृत होकर, जलमे डूबकर, अग्निमे जलकर, पवनादिकसे प्रताडित होकर, सर्पादिकसे डसा जाकर, विषसे मूर्च्छित होकर, बिजली पडकर, पर्वतादिके ऊपरसे गिरकर, मलबे मे दबकर, श्वासोच्छ्वास रुककर, अथवा हार्ट फेल (Heart-fail) होकर विकार-ग्रसित हुआ क्षणभरमे क्षयोन्मुख हो जाता है अथवा यो कहिये कि जहाँका तहाँ ढेरी हो जाता है। ऐसे अस्थिर शरीरमें हे चेतन!—विचारवान् भाई! स्थिरताकी बुद्धि कैसी? और इसका नाश होते अचरज कौनसा? इसमे तो स्थिरताकी कोई बात ही नहीं है और न इसके नाश होनेमे आश्चर्यके लिये कोई स्थान ही है।

(शार्दूलविक्रीडित)

दुर्गन्धाऽशुचि-धातु-भित्ति-कलितं संछादितं चर्मणा
विण्मूत्रादि-भृतं क्षुधादि-विलसद्दुःखाऽऽखुभिश्छिद्रितं।
क्लिष्टं काय-कुटीरकं स्वयमपि प्राप्तं जरा-वह्निना
चेत्तदपि स्थिरं शुचितरं मूढो जनो मन्यते॥ ३॥

चर्म मढी दुर्गन्ध-अशुचिमय-धातु-कुभीत-घिरी है,
क्षुधा-आदि-दुख-मूसक-छिद्रित मल-मूत्रादि-भरी है।
जरत स्वयं ही जरा-वह्निसे काय-कुटी सब जाने,
मूढ मनुष हैं, इतनेपर भी जो थिर-शुचितर माने॥ ३॥

भावार्थ—सब जानते हैं कि, काय-कुटी दुर्गन्ध और अशुचिमयी धातुओंकी खोटी दीवारोंसे घिरी हुई है, ऊपर चमडेसे मढी हुई—ढकी हुई है, मल-मूत्रादिकसे भरी हुई है, क्रीडा करते हुए क्षुधा-तृषादि-दुःखरूप चूहोंसे छिद्रित है—भूख-प्यासादिक-दुःखरूप चूहोंने इसमें मुखादि-रूपसे छेद बना रक्खे हैं—और स्वयं ही यह जरा-अग्निसे जलती रहती है—दिनपर दिन खुद ही जरामें परिणत हुई जीर्ण होती जाती है। इसबे

पर भी जो लोग इस काया-कुटीको स्थिर और शुचितर (अति पवित्र) मान रहे हैं वे मूढ मनुष्य हैं—मोहके वशीभूत अज्ञानी जन हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

अम्भोबुद्बुद-सन्निभा तनुरियं श्रीरिन्द्रजालोपमा
दुर्वाताऽऽहत-वारिवाह-सदृशाः कान्ताऽर्थ-पुत्रादयः।
सौख्यं वैषयिकं सदैव तरलं मत्ताऽङ्गनाऽपाङ्गवत्
तस्मादेतदुपप्लवाऽऽप्ति-विषये शोकेन किं किं मुदा ॥४॥

जल-बुद्बुद-सम है तनु, लक्ष्मी इन्द्रजालवत् मानो,
तीव्रपवन-हत-मेघ-पटल-सम धन-कान्ता-सुत जानो।
मत्त-त्रियाके ज्यों कटाक्ष त्यों चपल विषय-सुख सारे,
इससे इनकी प्राप्ति-नास्तिमें, हर्ष-शोक क्या प्यारे ? ॥४॥

भावार्थ—यह शरीर जलके बुलबुलेके समान क्षण-भगुर है। लक्ष्मी इन्द्रजालके सदृश मायामय है—क्षणभरमें अदृश्य हो जाती है। धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, बान्धव और माता-पितादिककी स्थिति उन मेघ-पटलों-जैसी है जो तीव्र पवनसे प्रताडित होकर छिन्न भिन्न हुए देखते देखते विलीन हो जाते हैं। और इन्द्रियोंके विषयसुख उसी प्रकार चचल हैं जिस प्रकार कि कामोन्मत्त स्त्रीके कटाक्ष होते हैं—उस कामिनीके तिर्यक्-दृष्टि-सचालन (तिरछी निगाहों) की तरह वे भी क्षण-क्षणमें बदलते रहते हैं—,कोई भी विषयसुख स्थिर नही—एकके बाद दूसरेकी और दूसरेके बाद तीसरेकी इच्छा बराबर चलती और बदलती रहती है। अत इन शरीरादिकी प्राप्तिमे हर्ष करनेसे और इनकी नास्तिमें—अभाव अथवा नाश होने पर—शोक करनेसे क्या नतीजा है ? कुछ भी लाभ नही है।

(शार्दूलविक्रीडित)

दुःखे वा समुपस्थितेऽथ मरणे शोको न कार्यो बुधैः
सम्बन्धो यदि विग्रहेण यदयं सम्भूति-धात्र्येतयोः।

तस्मात्तत्परिचिन्तनीयमनिशं संसार-दुःख-प्रदो
येनाऽस्य प्रभवः पुरः पुनरपि प्रायो न सम्भाव्यते ॥ ५ ॥

काया जननी दुःख-मरणकी हुआ योग यदि यासे ,
तो फिर शोक न बुधजन कीजे मरते वा दुख आते ।
आत्म-स्वरूप विचारो तब तो नित तज आकुलताई ,
संभव हो न कभी फिर जिससे देह-जन्म दुखदाई ॥ ५ ॥

भावार्थ—काया तो दुःख और मरणकी जननी है—दुःख और मरण इसी भूमिसे उत्पन्न होते हैं। यदि काया (देह) न हो तो आत्माको दुःख भी न उठाने पड़े और मरण भी न हो सके। जब कायाके साथ आत्माका सम्बन्ध है तो फिर दुःख अथवा मरणके उपस्थित होने पर, जिनका सम्बन्धावस्थामे होना अवश्यम्भावी है, बुधजनोंको शोक नहीं करना चाहिये। प्रत्युत इसके, उन्हें तो नित्य ही निराकुल होकर बहिरात्म-बुद्धिके त्यागपूर्वक आत्मस्वरूपका—अपनी मुक्तिका—विचार करना चाहिये, जिससे दुखदाई देहका पुनः पुनः जन्म ही संभव न रहे।

(शार्दूलविक्रीडित)

दुर्वारार्जित-कर्म-कारण-वशादिष्टे प्रनष्टे नरे
यच्छोकं कुरुते तदत्र नितरामुन्मत्त-लीलायितम् ।
तस्मात्तत्र कृते न सिद्ध्यति किमप्येतत्परं जायते
नश्यन्त्येव नरस्य मूढ-मनसो धर्माऽर्थ-कामादयः ॥ ६ ॥

दुर्निवार-निजकर्म-हेतु-वश इष्ट स्वजन मरजावे ,
जो उसपर बहुशोक करे नर वह उन्मत्त कहावे ।
क्योंकि शोकसे सिद्धि नहीं कुछ, हाँ, इतना फल होवे ,
मूढमना वह मानव अपने धर्मार्थादिक खोवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—अपने पूर्वोपार्जित दुर्निवार कर्मकारणके वशसे—अलंघ्य शक्ति-भावितव्यताके आधीन होकर—यदि अपना कोई इष्ट स्वजन मर जाता है तो उसपर जो मनुष्य अति शोक करता है उसका वह शोक करना उन्मत्तों-जैसी लीलाके समान है और इसलिये वैसा करनेवालेको उन्मत्त-पागल समझना चाहिये; क्योंकि शोक करनेसे कोई सिद्धि नहीं होती। हाँ, इतना फल ज़रूर होता है कि उस शोकाकुल मूढ मनुष्यके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों ही पुरुषार्थ नाशको प्राप्त होजाते हैं—शोकाकी अवस्थामें न धर्म बनता है, न अर्थका-धनका उपार्जन होता है, न इन्द्रियोंके विषय सधते हैं और न मोक्षकी ही साधना बन सकती है। चारों ही पुरुषार्थोंको वह मूढ मानव खो बैठता है।

(वंशस्थ)

उदेति पाताय रविर्यथा तथा
शरीरमेतन्ननु सर्व-देहिनाम् ।
स्वकालमाऽऽसाद्य निजे हि संस्थिते
करोति कः शोकमतः प्रबुद्ध-धीः ॥ ७ ॥

होकर उदित सूर्यमंडल ज्यो पा स्व-काल छिप जावे,
देह-धारियोंका तनु त्यो यह उपजे औ' नश जावे।
इससे पाकर जो स्वकाल निज इष्ट स्वजन मर जावे,
उसपर शोक करे को भविजन ? जो सुबुद्ध कहलावे ॥ ७ ॥*

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य प्रातःकाल उदयको प्राप्त होता है और अपना समय पूरा करके अस्त होजाता है—छिप जाता है—उसी प्रकार

---

* यह मूलका भावानुवाद है, शब्दानुवाद प्रायः यह हो सकता है:—
पतन-हेत रवि ज्यों उगे, त्यों नर-देह बखान।
काल पाय हितु-नशत को कर है शोक सुजान ?

सर्व प्राणियोका यह देह है जो उपजता है और आयु पूरी होजाने पर विनश जाता है। ऐसी स्थितिके होते हुए यदि काल पाकर अपना कोई प्यारा सम्बन्धी मर जाता है उस पर कौन ऐसा सुबुद्धजन है जो शोक करता है? बुद्धिमान् तो कोई भी शोक नही कर सकता, बहिरात्मदृष्टि मूढजन ही शोक किया करते हैं।

(उपेन्द्रवज्रा)

भवन्ति वृक्षेषु पतन्ति नूनं पत्राणि पुष्पाणि फलानि यद्वत्।
कुलेषु तद्वत्पुरुषाः किमत्र हर्षेण शोकेन च सन्मतीनाम् ॥८॥

वृक्षनपर उगकर झड़ पड़ते पत्र फूल फल जैसे,
जन्म कुलोमे लेकर प्राणी मरण लहैं हैं तैसे।
इस विध नियम अखंडित लख बुध हर्ष शोक क्या कीजे?
वस्तुस्वरूप विचार हृदयमे समता-भाव धरीजे ॥ ८ ॥ *

भावार्थ—जिस प्रकार पत्र, फूल और फल वृक्षो पर उत्पन्न होते हैं और निश्चितरूपसे गिरते हैं—झड पडते हैं—उसी प्रकार प्राणी कुलों-में जन्म लेते हैं और फिर मरणको प्राप्त होते हैं। इस तरह यह अटल नियम देखकर बुधजनोंको जन्म-मरणके अवसरों पर हर्ष-शोक क्या करना चाहिये? नहीं करना चाहिये—उन्हें तो वस्तुस्वरूपका विचार कर हृदयमें समताभाव धारण करना चाहिये।

(शार्दूलविक्रीडित)

दुर्लंघ्याद्भवितव्यता-व्यतिकरान्नष्टे प्रिये मानुषे
यच्छोकः क्रियते तदत्र तमसि प्रारभ्यते नर्त्तनम्।

---

* यह मूलका भावानुवाद है, शब्दानुवाद प्राय: यह होसकता है—
हों तरुपर निश्चय गिरें यथा फूल फल पात।
त्यो कुलमें नर, सुबुधके हर्ष-शोक किस भॉत? ॥

सर्वं नश्वरमेव वस्तु भुवने मत्वा महत्या धिया
निर्धूताऽखिल-दुःखसन्ततिरहो धर्मः सदा सेव्यताम् ॥९॥

दुर्निवार-भावी-वश अपना प्रियजन मरण करे जो,
अन्धकारमे नृत्य करे वह उसपर शोक करे जो।
सन्मतिसे सब वस्तु जगतमे नाशवन्त लख भाई!
सब दुख-सतति-नाशक सेवो धर्म सदा मन लाई॥ ९ ॥

भावार्थ—अलंध्यशक्ति भवितव्यताके वश होकर अपने किसी प्रियजनके मरने पर जो मनुष्य शोक करता है उसका वह शोक करना अन्धकारमें नृत्य करनेके समान व्यर्थ है—उससे किसीको भी कुछ लाभ अथवा आनन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अत शोकको छोड़कर विवेकको अपनाना चाहिये और उसके द्वारा यह मानकर कि जगतके सभी पदार्थ पर्यायदृष्टिमे नाशवान् हैं—कोई भी अपनी एक अवस्थामें सदा स्थिर रहनेवाला नहीं है—उस धर्मका सादर सेवन करना चाहिये जो सारी दु ख-परम्पराका विनाशक है।

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्वोपार्जित-कर्मणा विलिखितं यस्याऽवसानं यदा
तज्जायेत तदैव तस्य भविनो ज्ञात्वा तदेतद्ध्रुवम्।
शोकं मुञ्च मृते प्रियेऽपि सुखदं धर्मं कुरुष्वाऽऽदरात्
सर्पे दूरमुपागते किमिति भोस्तद्घृष्टिराऽऽहन्यते ॥१०॥

पूर्व-कर्मने जिस प्राणीका अन्त लिखा जब भाई!
उसका अन्त तभी होता है यह निश्चय उर लाई।
छोड़ शोक मरनेपर प्रियके, सादर धर्म करीजे,
दूर गया जब निकल साँप तब लीक पीट क्या कीजे? ॥१०॥

भावार्थ—अपने पूर्वोपार्जित कर्मके द्वारा जिस प्राणीका जिस समय अन्त होना लिखा गया है उसका वह अन्त उसी समय होता है—पहले या पीछे नही, इस ध्रुव सत्यको जानकर हे भाई ! प्रिय जनके मरने पर शोकको छोड़ और आदरके साथ सुखकारी धर्मका आचरण कर। सॉपके दूर निकल जानेपर उसकी लीकको पीटनेसे कोई नतीजा नहीं है—जिस प्रकार लीक पीटनेसे सॉप नहीं मरता उसी प्रकार शोक करनेसे वह दुख दूर नही होता जिसके लिये शोक किया जाता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

ये मूर्खा भुवि तेऽपि दुःख-हतये व्यापारमातन्वते
सा मा भूदथवा स्वकर्मवशतस्तस्मान्न ते तादृशाः ।
मूर्खान्मूर्खशिरोमणीन्ननु वयं तानेव मन्यामहे
ये कुर्वन्ति शुचं मृते सति निजे पापाय दुःखाय च ॥११॥

दुःखनाशनको मूढ जगतमे रुदन-कर्म विस्तारें,
वह दुख दूर न हो स्वकर्मवश नहिं वे सुख निर्धारें।
उन मूढोको मूढ-शिरोमणि हम निश्चित ही मानें ;
पाप और दुख-हेतु शोकको स्वजन मरे जो ठाने ॥११॥

भावार्थ—संसारमे जो मूढ प्राणी हैं वे दुखको दूर करनेके लिये रुदनव्यापार—रोनेके कार्यका विस्तार रूप सॉपा—करते हैं, परन्तु स्वकर्माधीन वह दुख दूर नहीं होता और न वे उस रुदनसे किसी सुखका अनुभव करते अथवा सुखी बनते हैं। आचार्य महोदय कहते हैं कि—ऐसे मूढोंको हम मूढ-शिरोमणि मानते हैं, जो स्वजनके मरने पर पाप और दुखके कारणीभूत शोकका अनुष्ठान करते हैं—शोक करके असातावेद-नीयरूप पापकर्मका बन्ध करते हैं और जिसके फलस्वरूप आगेको भी दुखके भागी बनते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

किं जानासि न किं शृणोषि न न किं प्रत्यक्षमेवेक्षसे
निःशेषं जगदिन्द्रजाल-सदृशं रम्भेव सारोज्झितम् ।
किं शोकं कुरुषेऽत्र मानुष-पशो ! लोकान्तरस्थे निजे
तत्किञ्चित्कुरु येन नित्य-परमानन्दाऽऽस्पदं गच्छसि ॥१२॥

नहिं जाने क्या नाहिं सुने तू ? नहिं क्या सन्मुख देखे ?
'कदलीवत् निःसार जगत सब इन्द्रजाल हो जैसे'।
इष्ट-मरणपर शोक करे क्या ? मनुषाकार पशु रे !
जिससे नित्य-परम सुख पावे वह कुछ तो कर तू रे ! ॥१२॥

भावार्थ—हे मनुष्याकारपशु—मूढ प्राणी ! क्या तू इतना भी नहीं जानता, नहीं सुनता और क्या प्रत्यक्ष—अपने सामने नहीं देखता कि यह सब जगत इन्द्रजालके समान मायामय एवं क्षणभंगुर और केलेके खम्भके समान निःसार है ? यदि यह सब जानता, सुनता और देखता है तो फिर स्वजनके मरने—परलोकवासी होने पर शोक क्यों करता है ? शोकको छोडकर कुछ ऐसा कार्य कर जिससे नित्य स्थिर रहनेवाले परमसुख की प्राप्ति होवे ।

(वसन्ततिलका)

जातो जनो म्रियत एव दिने च मृत्योः
प्राप्ते पुनस्त्रिभुवनेऽपि न रक्षकोऽस्ति ।
तद्यो मृते सति निजेऽपि शुचं करोति
पूत्कृत्य रोदिति वने विजने स मूढः ॥१३॥

जो जनमा वह नियत मरे है मृत्यु-दिवस जब आवे,
तीन भुवनमें भी तब उसका रक्षक कोई न पावे ।
इससे जो प्रियजनके मरते शोक करें अधिकाहीं,
कर पुकार वे रुदन करें हैं मूढ़ विजन-वन-माहीं ॥१३॥

भावार्थ—जिसने जन्म लिया है वह मृत्युका दिन आनेपर निश्चितरूपसे अवश्य ही मरता है, तीन लोकमे भी फिर उसका कोई रक्षक नहीं होता—उसे मौतसे नहीं बचा सकता। अत जो मनुष्य अपने प्रिय स्वजनके मरनेपर शोक करता है वह निर्जन वनमे विलाप करके रोता है—निर्जन वनका विलाप जैसे व्यर्थ होता है वैसे ही उसका वह शोक भी व्यर्थ है, उसपर कोई ध्यान देने वाला नहीं।

(वसन्ततिलका)

इष्ट-क्षयो यदिह ते यदनिष्ट-योगः
पापेन तद्भवति जीव ! पुरा-कृतेन।
शोकं करोषि किमु तस्य कुरु प्रणाशं
पापस्य तौ न भवतः पुरतोऽपि येन ॥ १४ ॥

इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग जो जगमें होते जानो।
पूर्व पापके फल हैं दोनो, यह चेतन ! उर आनो।
शोक करे किस हेतु ? नाशकर पाप, वृथा मत रोवे,
इष्ट-वियोग अनिष्ट योगका जन्म न जिससे होवे ॥ १४ ॥*

भावार्थ—इस ससारमे इष्टका वियोग और अनिष्टका जो योग होता है वह सब पूर्वोपार्जित पाप कर्मके आधीन होता है—ये दोनो पापके फल हैं। पापकर्म उदयमे आकर इधर प्यारी वस्तुका वियोग करता है और उधर ऐसी साधन-सामग्री जुटाता है जो अपनेको इष्ट न होकर अनिष्ट अथवा दुखकारी होती है। इससे हे चेतन प्राणी ! शोक क्या करता है ?

---

* मूलका संक्षिप्त अनुवाद इस प्रकार हो सकता है—
योग अनिष्ट व इष्टक्षय पूर्वपाप-फल दोय।
शोक करे क्या ? पाप नश, जिससे दोउ न होय ॥

उस पापका नाशकर जिससे आगेको इष्टवियोग और अनिष्टयोग दोनों होने ही न पावें।

(शार्दूलविक्रीडित)

नष्टे वस्तुनि शोभनेऽपि हि तदा शोकः समारभ्यते
तल्लाभोऽथ यशोऽथ सौख्यमथवा धर्मोऽथवा स्याद्यति ।
यद्येकोऽपि न जायते कथमपि स्फारैः प्रयत्नैरपि
प्रायस्तत्र सुधीर्मुधा भवति कः शोकोग्ररक्षोवशः ॥ १५ ॥

इष्ट-वस्तुके नष्ट हुए भी शोकारँभ तब कीजे,
यदि हो उसका लाभ, सुयश, सुख अथवा धर्म लहीजे।
चारोंमेंसे एक भी न जो बहु प्रयत्न कर होवे,
वृथा शोक-राक्षस-वश हो तब कौन सुधी सुख खोवे ? ॥१५॥

भावार्थ—प्यारी वस्तुके नाश होनेपर शोक तो तब करना चाहिये जब शोक करनेसे उस नष्ट हुई वस्तुका लाभ होता हो, सुयशकी प्राप्ति होती हो, सुख मिलता हो अथवा धर्मकी साधना होती हो। इन चारोंमेंसे एककी भी प्राप्ति यदि बहुत कुछ प्रयत्न करनेपर भी न होती हो तो फिर कौन ऐसा बुद्धिमान है जो व्यर्थ ही शोक-राक्षसके वश होवे—और इस तरह अपना वर्तमान तथा आगामी सुख भी खो बैठे।

(वसन्ततिलका)

एक-द्रुमे निशि वसन्ति यथा शकुन्ताः
प्रातः प्रयान्ति सहसा सकलासु दिक्षु ।
स्थित्वा कुले बत तथाऽन्यकुलानि मृत्वा
लोकाः श्रयन्ति विदुषा खलु शोच्यते कः ॥ १६ ॥

एक वृक्षपर आ पक्षी ज्यों करते रयन-बसेरा,
प्रातः उठ सब दश दिश जाते, उखड़ जात है डेरा।

त्यों कुलमें स्थिति कर बहु प्राणी मरकर अन्य कुलोंमें-
जा बसते, किस हेतु सुबुध तब शोक करें हृदयोंमें ? ॥१६॥

भावार्थ—जिस प्रकार बहुतसे पक्षी एक वृक्षपर आकर रात्रिको बसते हैं—रयणबसेरा करते हैं—और प्रात काल सवेरा होते ही सब उठकर दशों दिशाओंको चले जाते हैं—उनका वह डेरा ही उखड जाता है, कोई भी उनमेसे वहाँ अवशिष्ट नहीं रहता—उसी प्रकार बहुतसे प्राणी एक कुलमे आकर जमा होजाते हैं, कुछ काल स्थित होकर आगे पीछे मर जाते हैं और अन्यकुलोंमें जाकर जन्म लेलेते—बस जाते हैं । ऐसी वस्तुस्थितिके होते हुए बुधजन तब किसका किस लिये शोक करे—किसीका भी शोक करना उनके लिये उचित नहीं है ।

(शार्दूलविक्रीडित)

दुःख-व्याल-समाकुलं भव-वनं जाड्याऽन्धकाराऽऽश्रितं
तस्मिन्दुर्गति-पल्लिपाति-कुपथैर्भ्राम्यन्ति सर्वेऽङ्गिनः ।
तन्मध्ये गुरुवाक्प्रदीपममल-ज्ञान-प्रभा-भासुरं
प्राप्याऽऽलोक्य च सत्पथं सुख-पदं याति प्रबुद्धो ध्रुवम्॥१७॥

जडता-तमसे व्याप्त जगतवन, जहँ दुख-गज विचरे हैं,
दुर्गतिगेह-सहाइ-कुपथसे जहँ सब जीव भ्रमें हैं ।
तहँ अति निर्मल-ज्ञान-प्रकाशक गुरुवच-दीप जगे हैं ,
जिसको पाकर देख सुपथको, सुख-पद सुबुध लहे हैं ॥१७॥

भावार्थ—यह ससार-वन अज्ञान-अन्धकारसे व्याप्त है, दुःख-रूप व्यालोंसे—दुष्ट हाथियों अथवा सर्पोंसे भरा हुआ है—और उसमे ऐसे कुमार्ग हैं जो दुर्गतिरूप गृहोंको लेजाने वाले हैं और जिनमें पडकर सभी प्राणी भूले-भटके घूम रहे हैं—भवनमें चक्कर काट रहे हैं । उस वनमें निर्मल ज्ञानकी प्रभासे देदीप्यमान-गुरु-वाक्य रूप-अर्हत्प्रवचनरूप—महान्

दीपक जल रहा है। जो सुबुधजन है वह उस ज्ञानदीपकको प्राप्त होकर और उसके सहारेसे सन्मार्गको देखकर सुखपदको—सुखके वास्तविक स्थान (मोक्ष) को—प्राप्त होता है, इसमे सन्देह नही है॥

(वसन्ततिलका)

यैव स्वकर्म-कृत-काल-कलाऽत्र जन्तु-
स्तत्रैव याति मरणं न पुरो न पश्चात्।
मूढास्तथाऽपि हि मृते स्वजने विधाय
शोकं परं प्रचुर-दुःख-भुजो भवन्ति ॥१८॥

जो निजकर्मरचित है भविजन! मरण-घड़ी जगमाहीं,
जीव उसीमे मरता निश्चित, पूर्व पिछाड़ी नाहीं।
तौ भी मूरख ठान शोक अति, बहुदुखभागी हो है,
पाकर काल मरे यदि कोई अपना प्रियजन जो है ॥१८॥

भावार्थ—इस संसारमें अपने ही कर्मके द्वारा जो मरण-घड़ी रची गई है उसीमे यह जीव मरता है, उससे पहले या पीछे नही। इतने पर भी मूढजन अपने किसी स्वजनके काल पाकर मरनेपर अत्यन्त शोक करके महान् दुःखके भागी होते हैं—तीव्र असाता वेदनीय कर्मका बन्ध करके दुर्गतिके पात्र बनते हैं और नाना प्रकारके दुःसह कष्ट उठाते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

वृक्षाद्वृक्षमिवाण्डजा मधुलिहः पुष्पाच्च पुष्पं यथा
जीवा यान्ति भवाद्भवान्तरमिहाऽश्रान्तं तथा संसृतौ।
तज्जातेऽथ मृतेऽथवा न हि मुदं शोकं न कस्मिन्नपि
प्रायः प्रारभतेऽधिगम्य मतिमानस्थैर्यमित्यङ्गिनाम् ॥१९॥

तरुसे तरुपर पक्षी, मधुकर ज्यों पुष्पोपर जावें,
त्यों हि जीव भव छोड़ अन्य भव इस जगमें अपनावें।

इस विध जीवोंकी अस्थिरता जान सुबुधजन जो हैं,
जन्मत-मरते स्वजनादिकके हर्ष न शोक करैं हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पक्षी एक वृक्षसे उडकर दूसरे वृक्षपर और भौंरे एक फूलसे उडकर दूसरे फूलपर जा बैठते हैं उसी प्रकार ये जीव ससारमे निरन्तर एक भवको छोडकर दूसरा भव धारण करते रहते हैं। इस प्रकार जीवोंकी अस्थिरताको किसी भी एक स्थानपर स्थिर न रहने की परिणतिको—जानकर जो सुबुधजन हैं वे प्राय किसीके भी जन्म लेने-पर हर्ष और मरनेपर शोक नही करते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

भ्राम्यत्कालमनन्तमत्र जनने प्राप्नोति जीवो न वा
मानुष्यं यदि दुष्कुले तदघतः प्राप्तं पुनर्नश्यति ।
सज्जातावथ तत्र याति विलयं गर्भेऽपि जन्मन्यपि
द्राग्बाल्येऽपि ततोऽपि नो वृष इति प्राप्ते प्रयत्नो वरः ॥२०॥

भ्रमते काल अनन्त जगतमें जीव न नर-भव पावे,
यदि पावे भी तो दुष्कुलमें, अघसे फिर नश जावे।
सत्कुलमें आ गर्भहिं विनशै, लेते जनम मरे वा,
बचपनमे नश है, तब वृष पा, क्यो तहँ यत्न करे ना ?॥ २० ॥

भावार्थ—इस ससारमे अनन्तकाल भ्रमण करते हुए भी जीव को मनुष्यताकी प्राप्ति नही होती, यदि होती भी है तो दुष्कुलमे, जहाँ प्राप्त होकर भी पापके कारण वह पुन नष्ट होजाती है। और यदि सत्कुलमे भी प्राप्त होती है तो या तो जीव गर्भमे ही विलीन होजाता है या जन्म लेते ही मर जाता है और या बचपनमें ही नष्ट होजाता है। इन सब अवस्थाओं मे तो धर्मकी प्राप्तिका कोई अवसर ही नही होता। अत जब युवाव-स्थादिकमे अवसर मिले तो उस धर्मकी साधनाके लिये उत्तम प्रयत्न होना चाहिये—उस अवसरको योंही शोकादिकमे न खो देना चाहिये।

(पृथ्वी)

स्थिरं सदपि सर्वदा भृशमुदेत्यवस्थान्तरैः
प्रतिक्षणमिदं जगज्जलद-कूटवन्नश्यति ।
तदत्र भवमाश्रिते मृतिमुपागते वा जने
प्रियेऽपि किमहो मुदा किमु शुचा प्रबुद्धात्मनः ॥२१॥

थिर सतरूप सदा जग भी यह उपजे विनशे ऐसे,
पर्यायान्तर कर क्षण क्षणमें जलद-पटल हो जैसे ।
इससे जगमें जन्मत-मरते इष्टजनोके प्यारो !
हर्ष किये क्या? अहो शोक कर क्या है साध्य? विचारो ॥२१॥

भावार्थ—यह जगत (द्रव्यदृष्टिसे) सदा सत्स्वरूप तथा स्थिर होते हुए भी (पर्यायदृष्टिसे) अवस्थान्तरोके द्वारा क्षण क्षणमें मेघ-पटलकी तरह उपजता और विनशता है । अत—ऐसी वस्तुस्थिति होते हुए—इस ससारमे किसी प्रियजनके जन्म लेनेपर हर्ष करने और मरनेपर शोक करनेसे क्या नतीजा है? कुछ भी नहीं ।

(शार्दूलविक्रीडित)

लंघ्यन्ते जलराशयः शिखरिणो देशास्तटिन्यो जनैः
सा वेला तु मृतेर्न पक्ष्म-चलन-स्तोकाऽपि देवैरपि ।
यत्किस्मिन्नप संस्थिते सुखकरं श्रेयो वहाय ध्रुवं
कः सर्वत्र दुरन्त-दुःख-जनकं शोकं विदध्यात्सुधीः ॥२२॥

सागर-पर्वत-देश-नदोंको मनुज लाँघकर जावें,
मरण-घड़ीको पलकमात्र भी देव न लँघने पावे ।
इससे मरते किसी स्वजनके श्रेय त्याग सुखकारी,
सदा घोर दुखदाइ-शोकको कौन करे मतिधारी? ॥ २२ ॥

भावार्थ—समुद्रों, पर्वतो, देशो और बडी बडी नदियोंको मनुष्य लाँघकर चले जाते हैं, परन्तु मृत्युकी वेलाको—मरणघडीको—पलकके झपकने मात्र थोडीसी भी लाँघने-टालनेके लिये देवता भी समर्थ नही होते हैं। अत किसी स्वजनके मरनेपर ऐसा कौन सुधीजन है जो सुखकर पुण्यको—धर्माचरणको—छोडकर सदा घोर-दु ख-दायक शोकका अनुष्ठान करे ? सुधीजन तो कोई भी शोक नही कर सकता—मूढ जन ही शोक किया करते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

आक्रन्दं कुरुते यदत्र जनता नष्टे निजे मानुषे
जाते यच्च मुदं तदुन्नत-धियो जल्पन्ति वातूलताम् ।
यज्जाड्यात्कृत-दुष्ट-चेष्टित-भवत्कर्म-प्रबन्धोदया-
न्मृत्यूत्पत्ति-परम्परा-मयमिदं सर्वं जगत्सर्वदा ॥२३॥

स्वजन मरेपर जगमें मानव-गण जो अति बिललावे,
जन्मे मोद करें तिहिं गणधर बातुलता बतलावें।
कारण, जडता-दुश्चेष्टार्जित-कर्म-प्रबन्ध-उदयसे ,
जन्म-मरण-परिपाटी-मय है यह सब जगत सदा से ॥२३॥

भावार्थ—इस संसारमे स्वजनके मरनेपर मनुष्यगण जो अति विलापके साथ रुदन करते हैं और जन्म लेनेपर आनन्द मनाते हैं उसको गणधरदेव पागलपन बतलाते हैं। क्योकि अज्ञानता और दुश्चेष्टाओं-से उत्पन्न हुआ जो कर्मप्रबन्ध है उसके उदयसे यह सब जगत सदासे जन्म और मरणकी परम्पराको प्राप्त है—इसमे नवीनता, असाधारणता अथवा अद्भुत-घटनाके घटित होने जैसी कोई बात नही है, जो हर्ष-शोकका विषय बननेके योग्य हो। बिना किसी कारण-विशेषके यो ही सहसा हर्ष-शोकमे प्रवृत्त होना पागलपनका लक्षण है।

(शार्दूलविक्रीडित)

गुर्वी भ्रान्तिरियं जडत्वमथवा लोकस्य यस्माद्वसन्
संसारे बहु-दुःख-जाल-जटिले शोकी भवत्याऽऽपदि ।
भूत-प्रेत-पिशाच-फेरव-चिता-पूर्णे श्मशाने गृहं
कः कृत्वा भयदादमंगलकृताद्भावाद्भवेच्छंकितः ॥२४॥

बडी भ्रान्ति यह जग-जीवोंकी अथवा जडता मानें,
बहुदुख-जाल-जटिल-जगमें बस आपदि शोक जु ठानें।
भूत-प्रेत-चिति-फेरु-अमंगल-पूरित मरघट-माहीं—
करके घर, भयदाइ वस्तुसे को शंके मन-माहीं ? ॥२४॥

भावार्थ—यह जगतके जीवोंकी बडी भ्रान्ति अथवा जडता है कि बहुविध-दुःखोंके जालसे जटिल संसारमें वास करते हुए भी आपदा (मुसीबत) के आने अथवा दुःखोंके समुपस्थित होने पर शोक करते हैं। ऐसा कौन विवेकी मनुष्य है जो भूत, प्रेत, पिशाच, शृगाल और चिता जैसी वस्तुओं-से परिपूर्ण श्मशानभूमि-मरघटमें घर बनाकर रहना अंगीकार करके भी भयदायक तथा अमंगलकारी पदार्थोंसे शंकित होता है ? कोई भी नहीं होता। जो होता है उसे जिस प्रकार भ्रान्ति अथवा जडताके वशीभूत समझा जाता है उसी प्रकार संसारमें बसने वालोंको भी आपत्तिके समय शोक करनेपर वैसा ही समझना चाहिये। अन्यथा, उन्हें संसारका वास छोडना चाहिये, जो श्मशान-भूमिके तुल्य है और जहाँ सर्वत्र दुःखोंके जाल फैले हुए हैं। परन्तु इस तरफ़ कोई प्रयत्न देखनेमें नहीं आता—कोई भी संसार का बास छोडनेके लिये उद्यमवान् नहीं—और इसलिये संसारमें रहते हुए मरणादिकके प्रसगों पर शोकयुक्त होना उनकी भ्रान्तचित्तता अथवा जडताका ही सूचक है।

(मालिनी)

भ्रमति नभसि चन्द्रः संसृतौ शश्वदङ्गी
लभत उदयमस्तं पूर्णतां हीनतां च ।
कलुषित-हृदय. सन् याति राशिं च राशे-
स्तनुमिह तनुतस्तत्कोऽत्र मुत्कश्च शोकः ॥ २५ ॥

नभमण्डलमे चन्द्र भ्रमे ज्यो त्यो जगमे नित प्राणी,
गति उदयाऽस्त लहै वा त्यों ही हानी वृद्धि बखानी ।
अथवा राशीसे राशीको गमन करे शशि जैसे,
तनु तज तनु धारे कलुषित-जिय, हर्ष-शोक फिर कैसे ? ॥२५॥

भावार्थ—आकाशमे जिस प्रकार चन्द्रमा भ्रमण करता है और उदय-अस्त तथा हानि-वृद्धिको प्राप्त होता है उसी प्रकार ये देहधारी प्राणी भी इस ससारमें परिभ्रमण करते है और हानि-वृद्धिको प्राप्त होते हैं। अथवा जिस तरह चन्द्रमा मेष आदि एक राशिसे दूसरी राशिको जाता है उसी तरह ये कलुषित-हृदय ससारी प्राणी भी एक देह छोडकर दूसरी देह धारण करते हैं। ससारकी ऐसी स्वाभाविक स्थितिमे हर्ष-शोकसे क्या नतीजा है ?—कुछ भी नहीं ।

(मालिनी)

तडिदिव चलमेतत्पुत्र-दारादि-सर्वं
किमिति तदभिघाते खिद्यते बुद्धिमद्भिः ।
स्थिति-जनन-विनाशं नोष्णतेवाऽनलस्य
व्यभिचरति कदाचित् सर्व-भावेषु नूनम् ॥ २६ ॥

विद्युत्सम क्षणभगुर सुत-दारादिक यह सब जानैं,
नशते उनके खेद करे क्या ? जो नर चतुर सयाने ।
उपजन-विनशन-थितिधारण यह शील सभी द्रव्योका,
अग्नि-शील ज्यों उष्णपना है, नहिं इसमें कहुँ धोखा ॥२६॥

भावार्थ—स्त्री-पुत्रादिकके रूपमें जो भी कुटुम्ब-परिवार है वह सब बिजलीके समान क्षण-भंगुर है—उसमें स्वभावसे ही चलाचली लगी रहती है। ऐसी स्थिति होते हुए यदि उसका कोई प्राणी उठकर चल देता है—एक दम शून्यमें विलीन अथवा अदृश्य होजाता है—तो उसपर सयाने-बुद्धिमान मनुष्य भी किस बातका खेद करते हैं, यह कुछ समझमें नहीं आता! उपजना, विनशना और स्थिर रहना (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) यह तो सभी द्रव्योंका उसी प्रकार स्वभाव है जिस प्रकार कि अग्निका उष्णपना स्वभाव है। इसमें कभी व्यभिचार नहीं आता—ज़रा भी फर्क नहीं पड़ता और न धोकेकी कोई बात है। पर्यायोंकी अपेक्षा जीवके निरंतर ही उपजना-विनशना लगा रहता है और द्रव्यकी अपेक्षा सदा ध्रौव्यपना बना रहता है। अत पर्याय-परिवर्तनको देखकर खेद करना बुद्धिमानीका चिन्ह नहीं है—निरा मोहका परिणाम है।

(मालिनी)

प्रिय-जन-मृति-शोकं सेव्यमानोऽतिमात्रं
जनयति तदसातं कर्म यच्चाऽग्रतोऽपि।
प्रसरति शत-शाखं देहिनि क्षेत्र उप्तं
वट इव तनु-बीजं त्यज्यततां सप्रयत्नात्॥ २७॥

मृत्यु-शोकसे इष्टजनोंके उपजे कर्म असाता,
उसकी फिर शत-शाखा फैले देहीमें दुखदाता।
छोटासा वट-बीज खेतमें बोया ज्यों भविप्राणी!
बहु-विस्तार धरे त्यो, यह लख शोक तजो अघखानी॥ २७॥

भावार्थ—इष्ट जनोंकी मृत्युपर अतीव शोक करनेसे भारी असाता-वेदनीय कर्म उत्पन्न होता है, जिसकी फिर इस देहधारीमें सैंकड़ों दुखकी देनेवाली शाखाएँ · सी प्रकार फैलती हैं जिस प्रकार कि खेतमे बोया हुआ

छोटा-सा बडका बीज शाखा-प्रशाखादिके रूपमे बहुत विस्तारको धारण करता है। अत शोकको प्रयत्न-पूर्वक त्यागना चाहिये—वह पापकी खान अथवा दु.ख-परम्पराका मूल है।

(आर्या-श्लोकौ)

आयुः क्षतिः प्रतिक्षणमेतन्मुखमन्तकस्य तत्र गताः।
सर्वे जनाः किमेकः शोचत्यन्यं मृतं मूढः॥ २८॥
यो नाऽत्र गोचरं मृत्योर्गतो याति न यास्यति।
स हि शोकं मृते कुर्वन् शोभते नेतरः पुमान्॥ २९॥

क्षण-क्षणमे जो आयू छीजे वह यम-मुख सब जानैं,
उसमे गत सब जीव, एक फिर अन्य-शोक क्यों ठाने? २८॥
जो यम-गोचर है न जगतमे, हुआ कभी नही होवे।
वह ही शोभे मृतक-शोक कर, अन्य वृथा ही रोवे॥ २९॥

भावार्थ—क्षणक्षणमें जो आयुका क्षय होता है वह यम-मुख है। उस यम-मुखमे—कालके गालमें—सभी प्राणी गये हुए हैं—सभीकी आयु प्रतिक्षण छीजती है, तब एक प्राणी मूढ हुआ दूसरेका शोक क्यो करता है? वास्तवमे तो जो प्राणी इस जगतमे यमके गोचर—कालका ग्रास—नही है, न कभी हुआ और न होगा वही मृतकका शोक करके शोभाको प्राप्त हो सकता है। अन्य कोई भी मनुष्य शोक करके शोभा नही पा सकता।

(मालिनी)

प्रथममुदयमुच्चैर्दूरमारोह-लक्ष्मी-
मनुभवति च पातं सोऽपि देवो दिनेशः
यदि किल दिन-मध्ये तत्र केषां नराणां
वसति हृदि विषादः सत्स्ववस्थान्तरेषु॥ ३०॥

पहले ऊँचा चढ़कर दिनकर अपना तेज प्रकाशे,
उस ही दिन पुन नीचे उतरे स्वीय पतन अवभासे।
यह लख कौन मनुज हैं जिनके उरमे शोक बसे है?
पर्यायोकी पलटन होते, सकल विवेक नसे है॥ ३०॥

भावार्थ—जो सूर्यदेव उदय होकर पहले ऊँचा चढ़ता और अपना तेज प्रकाशता हुआ अपनी उच्चताकी शोभाका अनुभव करता है वही सूर्यदेव उसी दिन नीचे उतरता है और अपने पतनका अनुभव करता है, यह देखकर कौन मनुष्य हैं जिनके हृदयमें पर्यायोंकी अलटन-पलटन होते हुए शोक बसता है और विवेक स्थान नहीं पाता? ऐसे अविवेकी मनुष्य वास्तवमें मनुष्य कहलानेके पात्र नही।

(वसन्ततिलका)

आकाश एव शशि-सूर्यमरुत्खगाद्या
भूपृष्ठ एव शकट-प्रमुखाश्चरन्ति।
मीनादयश्च जल एव यमस्तु याति
सर्वत्र कुत्र भविनां भवति प्रयत्नः॥ ३१॥

शशि सूरज औ' पवन खगादिक नभमे ही विचरे हैं,
गाड़ी घोड़ा आदिक थलचर भूपर गमन करें हैं।
मीनादिक जलमे हि चले, यम सर्व ठौर विचरे है,
मुक्ति बिना किस थान जीवके रक्षा-यत्न सरे है?॥ ३१॥

भावार्थ—सूर्य, चन्द्रमा, पवन और पक्षी आदिक आकाशमे ही विचरते हैं, गाड़ी-घोडा आदिक भूमि पर चलते हैं और मीनादिक (जलचर जीव) जलमें ही गति करते हैं, परन्तु यमकी गति सर्वत्र है। ससारमें ऐसा कौनसा स्थान है जहाँ जीवोंके लिये यमसे-कालसे-बचनेका प्रयत्न सफल (कारगर) होसकता है? कोई भी स्थान ऐसा नहीं है—मुक्ति-

को प्राप्त किये बिना कोई भी जीव चाहे जितने उपाय करके भी कालकी पहुच और उसके आघातसे कही पर बच नही सकता ।

(शार्दूलविक्रीडित)

किं देवः किमु देवता किमगदो विद्याऽस्ति किं किं मणिः
किं मन्त्रः किमुताऽऽश्रयः किमु सुहृत्किं वा सुगंधोऽस्ति सः।
अन्ये वा किमु भूपति-प्रभृतयः सन्त्यत्र लोक-त्रये
यैः सर्वैरपि देहिनः स्वसमये कर्मोदितं वार्यते ॥२२॥

कर्म-उदयके सन्मुख क्या है देव-देवता भाई ?
वैद्य-मन्त्र-औषध क्या कर हैं मणि-विद्या-चतुराई ?
त्यों है मित्र-नृपादिक-आश्रय तीन लोकके माहीं,
ये सब मिलकर भी कर्मोदय टारन समरथ नाही ॥२२॥

भावार्थ—कर्मोंके उदयके सामने देव-देवता क्या चीज़ हैं ? वैद्य, मन्त्र और औषध क्या कर सकते हैं ? मणि, विद्या और चतुराई किस काम आसकती है ? और भी मित्र, बान्धव, आश्रय तथा राजादिक भी क्या बना सकते हैं ? क्योंकि ये सब मिलकर भी तीन लोकमें कही भी इस जीवके स्वसमयपर हुए कर्मोदयको टालनेमें समर्थ नही हैं। अत यह समझकर कि कर्मोदयके सामने किसीका भी कुछ वश नहीं चल सकता, इष्टवियोग और अनिष्टयोगके प्रसगोपर शोक नही करना चाहिये ।

(शार्दूलविक्रीडित)

गीर्वाणा अणिमादि-सुस्थ-मनसः शक्ताः किमत्रोच्यते
ध्वस्तास्तेऽपि परम्परेण सपरस्तेभ्यः कियान् राक्षसः।
रामाख्येन च मानुषेण निहत. प्रोल्लंघ्य सोऽप्यम्बुधिम्
रामोऽप्यन्तक-गोचरः समभवत्कोऽन्यो बलीयान्विधेः ॥२३॥

अणिमादिक ऋद्धी-धारक क्यो देव समर्थ बखानें ?
ध्वस्त हुए जब वे रावणसे, तिहि बल भी क्या मानें ?
राम मनुजने जिसको मारा, लाँघ अम्बुराशी को;
हुआ राम भी वह यम-गोचर, विधिसे अन्य बली को ? ॥२३॥

,भावार्थ—अणिमादिक ऋद्धियोंके धारक देवोंको क्या समर्थ समझें जबकि वे रावणके द्वारा ध्वस्त हुए ? उस रावण राक्षसका भी क्या बल मानें जिसे राम नामके मनुष्यने समुद्रको लाँघकर मारा ? और वह राम भी जब कालके गोचर हुआ तब विधिसे—कर्मोदयसे—अन्य बलवान कौन है ? कोई भी नहीं, यह स्पष्ट है।

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वत्रोद्गत-शोक-दाव-दहन-व्याप्तं जगत्काननं
मुग्धास्तत्र वधू-मृगी-गत-धियस्तिष्ठन्ति लोकैणकाः ।
काल-व्याध इमान्निहन्ति पुरतः प्राप्तान् सदा निर्दय-
स्तस्माज्जीवति नो शिशुर्न च युवा वृद्धोऽपि नो कश्चन ॥२४॥

व्याप रहा है शोक-दवानल इस भववनके माहीं,
मूढलोक-मृग नारि-मृगीमे लीन वहीं निवसाहीं ।
काल-व्याध निर्दयी सदा पा, सन्मुख इन सबको ही,
मारे, नहिं शिशु तरुण वृद्ध भी उससे बचता कोई ॥२४॥

भावार्थ—इस ससारवनमें सर्वत्र शोक-दावानल व्याप्त हो रहा है—चारों ओर दु ख-शोककी अग्नि दहक रही है—इतनेपर भी मूढलोगरूपी मृग स्त्रीरूपी मृगीमें आसक्त—लीन हुए वहीं निवास कर रहे हैं ! उन्हें काल-व्याधका कुछ पता ही नहीं। निर्दय काल—व्याध इन सब मृग-मृगियोंको सन्मुख पाकर मार डालता है। कालसे बच्चा, जवान और बूढ़ा कोई भी बच नहीं पाता—सभीको कालके गालमे जाना पड़ता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

सम्पच्चारु-लतः प्रिया-परिलसद्वल्लीभिरालिंगितः
पुत्रादि-प्रिय-पल्लवो रति-सुख-प्रायैः फलैराश्रितः।
जातः संसृति-कानने जन-तरुः कालोग्रदावानल-
व्याप्तश्चेन्न भवेत्तदा बत बुधैरन्यत्किमालोक्यते ॥ ३५ ॥

लक्ष्मी-चारुलता-युत वनिता-बेलालिंगित जानो,
पुत्रादिक प्रिय पत्र तथा रति-सुख-फल-सहित प्रमानो।
यों उपजा भववनमे जनतरु, काल-दवानल से जो,
व्याप्त न हो तो अन्य और क्या बुधजन अवलोकें जो ॥३५॥

भावार्थ—इस संसार-वनमे लक्ष्मीरूप सुन्दर लतासे युक्त, वनितारूप सुशोभित बेलसे आलिंगित, पुत्रादिकरूप प्रिय पत्रोंसे मंडित और प्राय रति-सुखरूप फलोंसे आश्रित बना हुआ जो यह पुरुष-वृक्ष उत्पन्न हुआ है वह जब तक काल-दावानलसे व्याप्त नहीं होता—उसमे कालाग्नि नहीं खेलती—तब तक बुधजन और क्या देख रहे हैं, यह कुछ समझमें नहीं आता! जो देखनेकी चीज़ बनी हुई है उसीकी जब शीघ्र दुर्दशा होने वाली है और इसलिये जो मन लगाने की वस्तु नहीं रहती तब दूसरी और कौन सुन्दर तथा स्थिर रहने वाली वस्तु है, जिस पर मनको लगाया जाय? यह बुद्धिमानों को सोचना चाहिये। और इसलिये उन्हें इधर-उधरकी शोभा के निरखने और अग्निकाण्डोंपर खेद व्यक्त करनेमें न लगे रहकर अपनी ओर देखना चाहिये, अपनेस्वरूपका विचार करना चाहिये और शीघ्र ही इस भववनसे निकल भागनेका भारी प्रयत्न करना चाहिये, जहाँ काल-दावानल खेल रहा है और सबको भस्म किये डालता है। अथवा उक्त वृक्ष-जैसी सुसम्पन्न दशाको पाकर भी और अधिक तृष्णामें न फँसना चाहिये, उसे ही गनीमत—सन्तोषके योग्य—समझकर अपने आत्महितकी साधनाका प्रयत्न करना चाहिये। और कालदावानल-द्वारा भस्म होनेसे पहले ही

अपनी उस सर्वसम्पदाको लोकसेवाके लिये अर्पण करके यशोधर्मके भागी बनना चाहिये, जिसे अन्यथा कालाग्निकी भेंट चढ़ना ही है।

(शार्दूलविक्रीडित)

वाञ्छन्त्येव सुखं तदत्र विधिना दत्तं परं प्राप्यते
नूनं मृत्युमुपाश्रयन्ति मनुजास्तत्राऽप्यतो बिभ्यति।
इत्थं काम-भय-प्रसक्त-हृदया मोहान्मुधैव ध्रुवं
दुःखोर्मि-प्रचुरे पतन्ति कुधियः संसार-घोरार्णवे ॥३६॥

वाँछें हैं सुख मनुज जगतमें, कर्म दिया पर पावें,
मरण अवश्य लहें हैं तो भी उससे सब भय खावें।
यों इच्छा-भय-लीन-चित्त हो व्यर्थ मोहवश प्राणी—
दुःख-लहर-युत भवसमुद्रमें पड़ें कुमति-अगवानी ॥३६॥

भावार्थ—इस संसारमें मनुष्य निरन्तर सुखकी चाह (इच्छा) रखते हैं परन्तु मिलता है वही जिसे विधि—अपना पूर्वोपार्जित कर्म—देता है। संसारमें सभीको मरना है—कोई भी उस अवश्यंभावी मरणसे बच नहीं सकता—फिर भी लोग उससे भय खाते हैं—मरणका नाम सुनकर भी थर थर काँपने लगते हैं। इस प्रकार व्यर्थकी इच्छा और भयमें लीन-चित्त होकर मूढ प्राणी मोहके वश उस घोर संसार-समुद्रमें पड़ते हैं जो दुःखरूप लहरोंसे व्याप्त है—अर्थात् पापकर्मके बन्धद्वारा अपना संसार बढ़ाते हुए अधिकाधिक दुख उठाते हैं।

(मालिनी)

स्वसुख-पयसि दीव्यन्मृत्यु-कैवर्तहस्त-
प्रसृत-घन-जरोरुप्रोल्लसज्जाल-मध्ये।
निकटमपि न पश्यत्यापदां चक्रमुग्रं
भव-सरसि वराको लोक-मीनौघ

इन्द्रियसुखजलमें क्रीड़त नित जगत-सरोवर-माहीं ;
यम-धीवर-कर-प्रसृत चमके जरा-जाल जहँ भाई !
उसमें फँसकर लोकरूप यह दीन-मीन-समुदाई ,
निकटप्राप्त भी घोर आपदाओंको देखत नाहीं ॥३७॥

भावार्थ—इस संसार-सरोवरमें यम-धीवरके हाथसे फैलाए हुए चमकीले जरा-जालमें फँसकर भी यह लोकरूप दीन-हीन—मीनोंका समूह अपने इन्द्रिय-सुख-जलमें क्रीडा करता रहता है और निकटमें ही प्राप्त होने वाले घोर आपदाओंके चक्रको नहीं देखता, यह बड़े ही खेदका विषय है! अर्थात् वृद्धावस्था प्राप्त होजाने पर भी जो इन्द्रिय-विषय-सुखोंमें मग्न रहते हैं उनकी दशा बड़ी ही खेदजनक है! ऐसे लोग जालमे फँसकर क्रीडा करते हुए मीनोंकी तरह शीघ्र ही घोर आपदाओंको प्राप्त होते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

शृण्वन्नन्तक-गोचरं गतवतः पश्यन् बहून् गच्छतो
मोहादेव जनस्तथाऽपि मनुते स्थैर्यं परं ह्यात्मनः ।
संप्राप्तेऽपि च वार्द्धके स्पृहयति प्रायो न धर्माय यत्
तद्बध्नात्यधिकाऽधिकं स्वमसकृत्पुत्रादिभिर्बन्धनैः ॥३८॥

सुन गतजीवोंको यमगोचर, लख बहुतोंको जाते ,
आत्मस्थिरता मानें जो नर वे मोही कहलाते ।
वृद्धावस्था प्राप्त हुए भी जो न धर्म चित लावें ,
अधिक अधिक वे पुत्रादिक बधनसे आत्म बँधावें ॥३८॥

भावार्थ—गत जीवोंको कालके गाल गये सुनकर और बहुतोंको अपने सामने कालके गालमें जाते (मरते) हुए देखकर भी जो लोग अपनेको स्थिर मान रहे हैं उसका कारण एकमात्र मोह है—और इसलिये ऐसे लोग मोही कहे जाते हैं। वृद्धावस्था प्राप्त होने-बुढापा आजानेपर भी जो लोग

धर्ममें चित्त नहीं लगाते वे पुत्र-पौत्रादिक बन्धनोंसे अपने आत्माको और ज़्यादा ज़्यादा बँधाते रहते हैं। ऐसे लोगोका बन्धन-मुक्त होना बड़ा ही कठिन कार्य हो जाता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

दुश्चेष्टा-कृत-कर्म-शिल्पि-रचितं दुःसन्धि-दुर्बन्धनम्
सापाय-स्थिति-दोष-धातुमलवत्सर्वत्र यन्नश्वरम् ।
आधि-व्याधि-जरा-मृति-प्रभृतयो यच्चाऽत्र चित्रं न तत्
तच्चित्रं स्थिरता बुधैरपि वपुष्यत्राऽपि यन्मृग्यते ॥२६॥

निबल-सन्धि-बन्धनयुत तनु अघकर्म-शिल्पि-निर्मित जो,
मलदोषादिभरा औ' नश्वर विनशत बार न जिस को।
आधि-व्याधि-जर-मरणादिक यदि हो तो चित्र यहाँ को ?
अचरज है बुधजन भी तनुमें अवलोकें स्थिरताको ! ॥२६॥

भावार्थ—निर्बल सन्धियों (जोड़ों) और निर्बल बन्धनोंसे युक्त यह शरीर पापकर्मरूप शिल्पकारका रचा हुआ है, मल-मूत्रादिसे भरा है, वात-पित्त-कफादि-दोषोंसे घिरा है, हड्डी आदि कुधातुओंसे निर्मित है और साथ ही नाशवान् है, अपाय-सहित स्थितिको लिये हुए है—इसके विन-शते-विघटते जरा भी देर नहीं लगती। ऐसे शरीरमें यदि आधि–व्याधियाँ उत्पन्न होवें—मानसिक तथा शारीरिक वेदनाएँ अपना अड्डा जमावें—और जरा–मरणादिकका संचार होवे तो इसमें आश्चर्यकी कोई भी बात नहीं है। आश्चर्य तो तब होता है जब बुधजन भी इस शरीरमें स्थिरताकी खोज करते हैं—इसके प्रति स्थिरताकी—सदा एक रूप बना रहनेकी—भावनाएँ बना लेते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

लब्धा श्रीरिह वाञ्छिता वसुमती भुक्ता समुद्राऽवधिः
प्राप्तास्ते विषया मनोहरतराः स्वर्गेऽपि ये दुर्लभाः ।

पश्चाच्चेन्मृतिरागमिष्यति ततस्तत्सर्वमेतद्विषा—
श्लिष्टं भोज्यमिवाऽतिरम्यमपि धिङ्मुक्तिः परं मृग्यताम्॥४०॥

सागरान्त-भू भोगी, वाञ्छित लक्ष्मी जगमें पाई,
पाये वे रमणीय विषय है सुर-दुर्लभ जो भाई।
पर पीछे आवेगी मृत्यू, इससे वे सब त्यागो।
विष-मिश्रित-भोजन-सम धिक् है, मुक्ति-मार्ग अवधारो॥४०॥

भावार्थ—इस जगतमें मनोवाछित लक्ष्मी पाई, समुद्रपर्यन्त पृथ्वी को भोगा—उसपर राज्य किया—और वे अति मनोहर-रमणीय विषय प्राप्त किये जो स्वर्गमे देवताओको भी दुर्लभ हैं, परन्तु इन सबके अनन्तर मृत्यु (मौत) आवेगी। अत ये सब विषय भोग—जिनमे हे आत्मन्! तू रच-पच रहा है और जिनमें इष्टवियोगादिकरूपसे ज़रा भी बाधा उपस्थित होने पर तू हाहाकार करने लगता है—विषमिश्रित भोजनके समान धिक्कारके योग्य हैं। अर्थात् जिस प्रकार विष मिला हुआ भोजन खाते समय स्वादिष्ट मालूम होने पर भी अन्तमें प्राणो का हरण करने वाला होनेसे त्याज्य है उसी प्रकार ये विषय-सुख भी सेवन करते समय अच्छे मालूम होते हुए भी अन्तमें दुर्गतिका कारण होनेसे त्यागनेके योग्य हैं। अत इनमें आसक्ति-का त्याग करके मुक्तिके मार्गपर लगना चाहिये, जिससे फिर वियोगादि-जन्य कष्ट न उठाने पड़ें।

(शार्दूलविक्रीडित)

युद्धे तावदलं रथेभ-तुरगा वीराश्च दृप्ता भृशम्
मंत्राः शौर्यमसिश्च तावदतुलाः कार्यस्य संसाधकाः।
राज्ञोऽपि क्षुधितोऽपि निर्दय-मना यावज्जिघत्सुर्यमः
क्रुद्धो धावति नैव सन्मुखमितो यत्नो विधेयो बुधैः॥४१॥

रणमें तब तक समरथ रथ गज अश्व, वीर गर्वी हैं;
मंत्र पराक्रम खड्ग तभी तक साधक कार्य सभी हैं।
जब तक भूखा भक्षण-इच्छुक निर्दयकाल जु मानो,
होकर कुपित न दौड़े सन्मुख; पूर्व यत्न बुध ! ठानो ॥४१॥

भावार्थ—युद्धमें राजाके भी हाथी घोड़े और रथ उसी वक्त तक समर्थ हैं, वीर योद्धा उसी वक्त तक गर्व धारण करते हैं और मंत्र पराक्रम तथा खड्ग भी उसीवक्त तक कार्यके संसाधक हैं जब तक कि भूखा भक्षण-इच्छुक निर्दयी काल कुपित होकर सामने नहीं दौड़ता है—विकराल कालके सामने आते ही सबके कार्योंमें शिथिलता आजाती है। अत कालके सम्मुख आनेमें पहले ही बुधजनोंको इधर अपने आत्महितके साधनेका कुछ यत्न कर लेना चाहिये—कालके साक्षात् सम्मुख आजाने और उसके द्वारा शीघ्र ही कवलित होने की नौबत उपस्थित हो जाने पर तो फिर कुछ भी नहीं बन सकेगा।

(शार्दूलविक्रीडित)

राजाऽपि क्षण-मात्रतो विधिवशाद्रंकायते निश्चितम्
सर्व-व्याधि-विवर्जितोऽपि तरुणोऽत्याशु क्षयं गच्छति।
अन्यैः किं किल सारतामुपगते श्री-जीविते द्वे तयोः
संसारे स्थितिरीदृशीति विदुषा क्वाऽन्यत्र कार्यो मदः ॥४२॥

राजा भी क्षणमे विधि-वशसे अवश रंक हो जावे,
सर्वव्याधिसे रहित तरुण भी शीघ्र नाशको पावे।
औरोंसे क्या ? साररूप जो धन जीवन दो जानो,
उनकी ऐसी स्थिति जगमें बुध ! तब किसमें मद ठानो ॥४२॥

भावार्थ—इस संसारमें विधिके वशमें—पूर्वोपार्जित कर्मके आधीन हुआ—राजा भी क्षणभरमें रंक होजाता है और सर्वरोगोंसे रहित तरुण-

हट्टाकट्टा नौजवान—भी शीघ्र ही नाशको प्राप्त होजाता है ; औरोंकी तो बात ही क्या ? जब संसारमें साररूपसे माने जाने वाले धन और जीवन दोनोंकी ही ऐसी क्षणभंगुर स्थिति है तब बुधजनोंको किसे पाकर मद करना चाहिये ?—कहीं भी उनके मदके लिये स्थान नहीं है, विधिके चक्करमें पड़ कर दमभरमें सारे मदका चकनाचूर होजाता है ।

(शार्दूलविक्रीडित)

हन्ति व्योम स मुष्टिनाऽत्र सरितं शुष्कां तरत्याकुल-
स्तृष्णाऽऽर्तोऽथ मरीचिकाः पिबति च प्रायः प्रमत्तो भवन् ।
प्रोत्तुंगाऽचल-चूलिका-गतमरुत्प्रेखत्प्रदीपोपमै-
र्यः सम्पत्सुत-कामिनी-प्रभृतिभिः कुर्यान्मदं मानवः ॥४३॥

मुट्ठीसे वह व्योम हने या शुष्क नदी तिरता है ,
व्याकुल हो वा मत्त-तृषातुर हो मरीचि पीता है ।
ऊँचे पर्वतशिखर पवनसे कम्पित-दीप-समानी ,
धन-कान्ता-सुत आदिकमें मद कर नर जो है मानी ॥४३॥

भावार्थ - धन, स्त्री और पुत्रादिकी हालत उन दीपकोंके समान है जो ऊँचे पर्वतकी चोटीपर रक्खे हुए पवनसे काँप रहे हैं और दम भरमें बुझ जानेकी स्थितिमें हैं । ऐसे क्षणभंगुर धनादिकको पाकर जो मनुष्य घमण्ड करता है—अभिमानी बन रहा है—वह प्रायः पागल हुआ मुक्का-घूसा मारकर आकाशको हनना चाहता है ! व्याकुल हुआ सूखी नदीको तिरनेकी चेष्टा करता है ! और प्याससे पीडित हुआ मृगमरीचिकाको पीनेका उद्यम करता है !! ये सब कार्य जिस प्रकार व्यर्थ हैं और इन्हें करने वाले किसी भी मनुष्यके पागलपनको सूचित करते हैं उसी प्रकार स्त्री-पुत्र-धनादिकको पाकर अहंकार (गर्व) करना भी व्यर्थ है और वह अहंकारीके पागलपनको सूचित करता है ।

(शार्दूलविक्रीडित)

लक्ष्मी व्याध-मृगीमतीव-चपलामाश्रित्य भूपा मृगाः
पुत्रादीनपरान्मृगानतिरुषा निघ्नन्ति सेर्ष्यं किल ।
सज्जीभूत-घनाऽऽपदुन्नतधनु संलग्न-संहृच्छर
नो पश्यन्ति समीपमागतमपि क्रुद्धं यमं लुब्धकम् ॥४४॥

व्याध-मृगी चपला-लक्ष्मीको भूपतिमृग अपनाई,
पुत्रादिक अन मृगन रोषसे मारें ईर्षा लाई।
आपद-धनुष-भयंकर-सज्जित और तीर ताने जो,
कुपितरूप सन्मुख आया भी काल-व्याध न लखैं वो ॥४४॥

भावार्थ—भूपतिरूप मृग अतीव चंचला लक्ष्मीरूप व्याध-मृगीको अपनाकर—अपने आश्रयमें करके—पुत्र-भ्रातादिरूप अन्य मृगोंके साथ ईर्षा भाव धारण करते हुए उन्हें अति क्रोधके साथ मारते हैं, और ऐसा करते हुए वे उस काल-व्याधको सन्मुख आया हुआ भी नहीं देखते हैं जो तीर चढ़ाकर खींचे हुए आपद्रूप भयंकर धनुषसे सज्जित है और साक्षात् क्रोधकी मूर्ति बना हुआ है—अर्थात् उस चंचला लक्ष्मीके मोहमें फँसकर, जो काल-व्याधकी मायामय-मृगी है और कभी किसीकी नहीं होसकती, ईर्षासे दूसरोंका संहार करते हुए अपने निकटतम प्राप्त मरणको भी ज़रा ख़याल नहीं करते हैं, यह बड़े ही खेदका विषय है ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

मृत्योर्गोचरमागते निज-जने मोहेन यः शोक-कृत्
नो गन्धोऽपि गुणस्य तस्य बहवो दोषाः पुनर्निश्चितम् ।
दुःखं बर्द्धत एव नश्यति चतुर्वर्गो मतेर्विभ्रमः
पापं रुक्च मृतिश्च दुर्गतिरथ स्याद्दीर्घ-संसारिता ॥४५॥

मोही होकर इष्टमरण पर शोक करे जो प्राणी,
लाभ न उसको रंचमात्र, पर विपुल सहै वह हानी।
दुःख बढ़े, धर्मादि नशें औ' मति-विभ्रम हो जावे,
पाप रोग कुमरण पुन दुर्गति, जो जग-भ्रमण करावे ॥४५॥

भावार्थ—जो प्राणी अपने इष्ट स्वजनके मरने पर मोहवश शोक करता है उसके उस शोक करनेमे गुणकी तो गध भी नही, किन्तु बहुतसे दोषोंका होना सुनिश्चित है—अर्थात् शोक करनेसे उसको रचमात्र भी लाभ नहीं होता, उल्टी भारी हानि उठानी पड़ती है। (वह हानि सक्षेपमें इस प्रकार है—) उसका दुख बढ़ जाता है—घटता नही, धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका नाश होजाता है—शोकदशामे कोई भी पुरुषार्थ उससे नहीं बनता, बुद्धि भ्रष्ट होजाती है, पाप उत्पन्न होता है, रोग सताते हैं और कुमरण होजाता है, जिसके फलस्वरूप दुर्गतिकी प्राप्ति होकर ससार परिभ्रमण बढता रहता है।

(आर्या)

आपन्मय-संसारे क्रियते विदुषा किमापदि विषादः।
कस्त्रस्यति लंघनतः प्रविधाय चतुष्पथे सदनम् ॥४६॥

यह जग है सब दुःख-सदन जब यहाँ बसेरा ठाना,
दुःखोसे किस हेतु सुजन ! तब चित अपना अकुलाना ?
जो अपना घर बाँध रहे हैं, मनुज चतुष्पथमाही,
लंघनके भयसे तब कैसे वह शंके मनमाही ? ॥४६॥*

भावार्थ—यह संसार सब दुखमय है—दुखोंका घर है। जब यहाँ

---

*मूलका सक्षित भावानुवाद इस प्रकार होसकता है—
विपतमयी जगमें सुजन ! क्या विषाद दुखमाहिं ?
लँघनेसे भय को करै ? कर घर चतुपथ-माहिं ॥

रहना-बसना ठान लिया है तब हे सुबुधजन! दुःखोंके सामने आनेपर अपने चित्तको किसलिये आकुल-व्याकुल करता है? चित्तमें आकुलता-व्याकुलता लानेसे कोई नतीजा नहीं। यदि कोई मनुष्य चौराहेमें अपना घर बनाकर रहता है तो वह फिर इस बातसे क्यों डरता है कि मेरे घर को लोग लाँघ कर जाते हैं? चौराहेवाले घरका जनतासे लँघा जाना जिस प्रकार अनिवार्य और उससे भय खाना बेकार है उसी प्रकार संसारवासका दुःखोंसे आक्रान्त होना अनिवार्य और उनसे भय खाना निरर्थक है। जिसे संसारके दुःखोंसे भय मालूम होता है उसे संसारका वास छोड़ना चाहिये, छोड़नेकी तरफ असली कदम बढ़ाना चाहिये—मोक्षके मार्ग पर लगना चाहिये। अन्यथा, दुःख आनेपर रोना-चिल्लाना बुद्धिमानीका कोई कार्य न होकर पागलों-जैसी चेष्टा कहा जायगा।

(वसन्ततिलका)

वातूल एष किमु किं ग्रह-संग्रहीतो
भ्रान्तोऽथवा किमु जनः किमथ प्रमत्तः।
जानाति पश्यति शृणोति च जीवितादि
विद्युच्चलं तदपि नो कुरुते स्वकार्यम्॥ ४७॥

क्या उसको वातूल कहें या भूताविष्ट बखानें?
भ्रान्तचित्त क्या उसको जानें वा उन्मत्त प्रमानें?
जीवनादिको विद्युत्-सम चल जो देखे औ' जाने,
कानोंसे अपने पुन सुन है, तोहु न निजहित ठाने॥४७॥

भावार्थ—जो मनुष्य यह जानते, देखते और सुनते हुए भी कि जीवन, यौवन तथा स्त्री, पुत्र, मित्र, बान्धव और धनादिक बिजलीके समान चंचल हैं—कोई भी इनमें स्थिर रहनेवाला नहीं है—अपना कार्य—अपने आत्म-हितकी साधना—नहीं करता है—मोहमें फँसा हुआ इन्हींमें आसक्त बना रहता है—उसे पागल कहें, ग्रह-पीड़ित (भूत लगा) समझें अथवा भ्रान्तचित्त

नाम देवे, कुछ समझमे नही आता ! हाँ, इतना जरूर कह सकते हैं कि उसकी प्रवृत्ति इन्हीं पागलादि-जैसी है और इसलिये उसे इनमेसे चाहे जो कहा जासकता और समझा जासकता है ।

(शार्दूलविक्रीडित)

दत्तं नौषधमस्य नैव कथितः कस्याऽप्ययं मंत्रिणो
नो कुर्याच्छुचमेवमुन्नतमतिर्लोकान्तरस्थे निजे ।
यत्ना यान्ति यतोऽङ्गिनः शिथिलतां सर्वे मृतेः सन्निधौ
बन्धाश्चर्म-विनिर्मिताः परिलसद्वर्षाम्बु-सिक्ता इव ॥४८॥

'हा ! मै इसको औषध नहिं दी, मांत्रिकको न दिखाया '
इस विध शोक न करना बुधजन ! स्वजन तजे जब काया ।
कारण, काल-समीप मनुजके शिथिल यत्न सब होवे ।
जल-सिञ्चित दृढचार्मिक बन्धन ज्यों ढीले पड़जावे ॥४८॥

भावार्थ—विवेकी मनुष्योंको अपने किसी इष्ट स्वजनके परलोक-यात्रा करने–देहके त्यागनेपर इस प्रकार शोक नही करना चाहिये 'कि हा ! मैंने इसे अमुक दवाई नहीं दी, अमुक मन्त्रवादी स्यानेको नहीं दिखाया', क्योंकि जब किसीका काल समीप आता है तो मनुष्यके सर्व प्रयत्न–उपाय उसी प्रकार शिथिल होजाते हैं जिस प्रकार कि जलसे सिंचित होने पर चमड़ेके दृढ़ बन्धन ढीले पड़जाते हैं—उस समय किसीकी भी कोई तदबीर बनती अथवा चलती नहीं है । और इसलिये उक्त प्रकारकी बातोंका विचार करके पछताना और शोक करना व्यर्थ है । समझना चाहिये 'ऐसी ही होनहार (भवितव्यता) थी ।'

(शिखरिणी)

स्वकर्म-व्याघ्रेण स्फुरित-निज-कालादि-महसा
समाघ्रातः साक्षाच्छरण-रहिते संसृति-वने ।

प्रिया मे पुत्रा मे द्रविणमपि मे मे गृहमिदम्
वदन्नेवं मे मे पशुरिव जनो याति मरणम् ॥४६॥

कालादिक पा तेजयुक्त जो कर्मसिंह बलधारी,
उससे पकडा शरणरहित भव-वनमे जन अविचारी।
'मेरी भार्या मेरा धन-गृह मेरा सुत-परिवारा',
अज-सुत-सम यो 'मे मे' करता मरण लहे बेचारा ॥४६॥

भावार्थ—जिस प्रकार निर्जन वनमे व्याघ्रसे पकडा हुआ बकरी का बच्चा 'मे मे' करता हुआ अपने प्राण दे देता है—कोई भी उस समय उस बेचारेका शरण सहायक-अथवा उसकी पुकारको सुननेवाला रक्षक वहाँ नही होता, उसी प्रकार इस शरण-रहित संसारवनमे यह अविचारी (अविवेकी) मनुष्य प्राणी जब अपने उस पूर्वोपार्जित कर्मरूप सिंहसे पकडा जाता है जो उदयकालादिको पाकर महातेजस्वी एवं पराक्रमी होता है तब यह भी मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरा धन और मेरा यह घर इत्यादिरूपसे 'मे मे' (मेरा मेरा) करता हुआ मरणको प्राप्त होजाता है—कोई भी उस समय उसका शरण-सहायक अथवा उसकी पुकारको सुननेवाला रक्षक नही होता, सब निरुपाय हुए खडे खडे देखते ही रहजाते हैं। और काल उसे क्षणभरमे कवलित कर डालता है। ऐसी असहाय-दशामे किसीके वियोग पर शोक करना व्यर्थ है।

(वंशस्थ)

दिनानि खण्डानि गुरूणि मृत्युना
विहन्यमानस्य निजाऽऽयुषो भृशम्।
पतन्ति पश्यन्नपि नित्यमग्रतः
स्थिरत्वमात्मन्यभिमन्यते जडः ॥ ५० ॥

यमसे अतिशय पीडित अपनी आयु सभी जन जानो,
दिन हैं गुरुतर खण्ड उसीके, यह निश्चय उर आनो।
उनको नित निज सन्मुख खिरते लखकर भी जो प्राणी,
अपनेको स्थिर मान रहा है वह क्यों नहिं अज्ञानी? ॥५०॥

भावार्थ—यह सुनिश्चित है कि अपनी आयु यमने अति ही पीडित है—कालसे बराबर हनी जा रही है—और दिन उसके बडे बडे खण्ड हैं—अंश हैं। इन खण्डों अथवा अंशोको निरन्तर अपने सामने खिरते खिसकते, बिखरते और इस तरह आयुका विनाश होते—देखकर भी जो मनुष्य अपनेको स्थिर-अमर मान रहा है—निरन्तर कालके गालमे चले जानेका जिसे खयाल ही नही होता – वह कैसे अज्ञानी नहीं है ? अवश्य ही अज्ञानी है—जडबुद्धि है।

(शार्दूलविक्रीडित)

कालेन प्रलयं व्रजन्ति नियतं तेऽपीन्द्र-चन्द्रादयः
का वार्ताऽन्यजनस्य कीटसदृशोऽशक्तेरदीर्घायुष. ।
तस्मान्मृत्युमुपागते प्रियतमे मोहं वृथा (मुधा) मा कृथाः
काल· क्रीडति नाऽत्र येन सहसा तत्किञ्चिदन्विष्यताम् ।५१।

इन्द्र-चन्द्र-आदिक भी निश्चय काल गाल जब जावे,
निर्बल-जन अल्पायु-कीट-समकी क्या बात बतावे ?
इससे स्वजन-मरण पर भविजन! मोह वृथा मत कीजे।
काल न तनुमे खेले जिससे शीघ्र आत्म लख लीजे ॥५१॥

भावार्थ—जब इन्द्र और चन्द्रादिक भी निश्चितरूपसे कालके गालमे चले जाकर प्रलयको प्राप्त होजाते हैं तब कीडेके समान निर्बल और अल्पायु अन्य जनकी तो बात ही क्या है ? उसका यदि क्षण-भरमे मरण हो जाता है तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नही है। अत अपने प्रियजनके मरने पर वृथा ही मोहमय शोक न करना चाहिये, किन्तु शीघ्र ही उस तत्त्वकी खोज कर लेनी चाहिये—अपने आत्मस्वरूपको पहचान कर उसमे स्थिर होजाना चाहिये—जिससे काल अपने शरीरमें खेलने न पावे—उसका दुर्गति-गमनादिरूप कोई दुष्परिणाम न होने पावे।

(शार्दूलविक्रीडित)

संयोगो यदि विप्रयोग-विधिना चेज्जन्म तन्मृत्युना

सम्पच्चेद्विपदा सुखं यदि तदा दुःखेन भाव्यं ध्रुवम् ।
संसारेऽत्र मुहुर्मुहुर्बहुविधाऽवस्थान्तर-प्रोल्लसद्-
वेषाऽन्यत्व-नटी-कृताङ्गिनि सतः शोको न हर्षः क्वचित् ॥५२॥

जो संयोग वियोग-सहित वह, जन्म मृत्यु-युत मानो,
संपत विपदासे, सुख दुखसे, निश्चय भाव्य सुजानो ।
वार वार गति-जाति-अवस्था धर बहुविध जगमाहीं,
जीव नचैं, नहिं हर्ष-शोक तब, कबहु सन्त-मन-माही ॥५२॥

भावार्थ—जो सयोग है वह वियोगको साथमें लिए हुए है—जिस का जिसके साथ सयोग हुआ है उन दोनों का एक-न-एक दिन एक दूसरे से बिछुड़ना अवश्यभावी है। जन्मके साथ मृत्यु लगी हुई है—जो जनमता है वह एक न एक दिन मरता जरूर है । सपदा अवश्य ही विपदासे घिरी हुई तथा सुख निःसन्देह दुखसे व्याप्त है। और ये जीव नाना प्रकारकी गति-जाति-आदि-अवस्थारूप वेषोंको धारण करके नाच रहे हैं । यह देखकर सन्त-जनोंके मनमे कभी भी हर्ष या शोक नहीं होता है—संसारकी इस स्थितिका विवेक ही उन्हें हर्ष-शोकमें आत्म-समर्पण करने नहीं देता ।

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकाश्चेतसि चिन्तयन्त्यनुदिनं कल्याणमेवाऽऽत्मनः
कुर्यात्सा भवितव्यताऽऽगतवती तत्तत्र यद्रोच्यते ।
मोहोल्लास-वशादतिप्रसरतो हित्वा विकल्पान्बहून्
राग-द्वेष-वषोज्झितैरिति सदा सद्भिः सुखं स्थीयताम् ॥५३॥

अपने हितकी चिन्ता निशदिन लोक करे मनमाही,
पर भावी-अनुसार होत सब, इसमे संशय नाहीं ।
इससे फैल तीव्र-मोह-वश बहुविकल्पके त्यागी,
राग-द्वेष-विष-रहित सदा सुखमे तिष्ठे बड़भागी ॥५३॥

भावार्थ—संसारके प्राणी दिनरात अपने हितकी चिन्तामे लगे रहते हैं, पर होता है वही जो भावीको रुचता है—जिसे भवितव्यता उपस्थित होकर अपने विधानके अनुसार करती है। अत तीव्रमोहके वश जो बहुत विकल्प फैले हुए हैं उनका त्याग करनेवाले वे सत्पुरुष ही सुखमें रहते हैं जो राग-द्वेषरूप विषसे रहित हैं। राग और द्वेषका विष बडी बेचैनी उत्पन्न करता है, निराकुल नहीं होने देता और इसलिये इस जीवको सुख-शान्तिकी प्राप्ति नहीं हो पाती। जो राग-द्वेषको जीतते हैं वे सहज ही मोहपर विजय प्राप्त करते हैं, उनके मोहजन्य सारे विकल्प-जाल छूट जाते हैं और इस तरह वे विषम-स्थितिसे छूटकर स्वय सुख-शान्तिकी सम-स्थिति मे आजाते हैं—निराकुलता मय सुखका अनुभव करने लगते हैं।

(वसन्ततिलका)

लोका ! गृह-प्रियतमा-सुत-जीवितादि-
वाताऽऽहत-ध्वज-पटाऽग्रचलं समस्तम् ।
व्यामोहमत्र परिहृत्य धनादि-मित्रे
धर्मे मतिं कुरुत किं बहुभिर्वचोभिः ॥ ५४ ॥

भविजन ! यह घर नारी सुत औ' जीवन आदिक जानो,
पवन-प्रताडित-ध्वजा-वस्त्र-सम चंचल सकल बखानो ।
छोड़ धनादिक मित्रोंमे यह मोह महा-दुखदाई,
'जुगल' धर्ममे प्रीति करो अब, अधिक कहें क्या भाई ॥५४॥

भावार्थ—हे भव्यजनों ! यह घर, स्त्री, पुत्र और जीवन-धन आदिक सब उसी प्रकारसे चंचल हैं जिस प्रकार कि पवनसे प्रताडित हुआ ध्वजा-वस्त्रका अग्रभाग सदा चचल रहता है—इनमें कोई भी वस्तु स्थिर अथवा सदा एक रसरूप रहनेवाली और इसलिये मन लगानेकी चीज नहीं है। अत इन धन, स्त्री, पुत्र और मित्रादिकमें मोहको—आसक्तिको—, जो महा दुखदाई है, छोडकर धर्ममें चित्तको लगाओ—मुनि और श्रावकके

भेदमे उभय प्रकारके धर्ममे अनुरागको बढाओ। इससे अधिक अब और क्या कहूं ?—यह सबका सार है।

(वसन्ततिलका)

पुत्रादि-शोक-शिखि-शान्तकरी यतीन्द्र-
श्रीपद्मनन्दि-वदनाम्बुधर-प्रसूतिः ।
सद्बोध-शस्य-जननी जयतादनित्य-
पंचाशदुन्नतिधियाममृतैकवृष्टिः ॥ ५५ ॥

पद्मनन्दि-मुनि-मुख-जलधरसे उपजी बुध-हितकारी,
पुत्र-मित्र-भार्यादि-शोक-आताप मिटावनहारी ।
अमृतवृष्टि सुबोध-धान्यकी 'जुगल' जन्म-दातारी,
जयवन्ती वर्तो जगमे यह अथिर-भावना प्यारी ॥ ५५ ॥

भावार्थ—यह अनित्यभावना श्रीपद्मनन्दि-मुनिराजके मुखरूप मेघ (बादल)से उत्पन्न हुई वह अमृतवृष्टि—अमर-रसकी वर्षा—है, जो पुत्र मित्र भार्या तथा धनादिकके शोकजन्य आतापको मिटानेवाली और सम्यग्ज्ञान-रूप धान्यको उपजानेवाली है। अत बुधजनोंके लिये हितरूप यह 'अनित्य-भावना' जगतमें सदा ही जयवन्ती रहे—जगतके जीव इसे प्राप्त करके सदा ही अपने शोक-संतापको मिटाते हुए आत्मामें सम्यग्ज्ञानको उगाने-जगाने में समर्थ होवें, ऐसी ग्रन्थकारकी तथा अनुवादक जुगलकिशोरकी आन्तरिक भावना है।